Sanskritik aur Samajik Anusandhan
www.shodhjournal.com
ISSN: 2582-5852
Received: 15-10-2024, Accepted: 14-11-2024, Published: 30-11-2024
Volume 5, Issue 2, 2024, Page No. 10-12

साहित्य, दृश्य और दृष्टि

डॉ. अनिल कुमार
एसोसियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
साहित्य की कोई भौगोलिक सीमा नहीं होती। उसी तरह रचनाकार के चिंतन– मनन की क्रिया एवं रचना– प्रक्रिया भी सीमातीत मानी जाती है। ऐसे में साहित्य के विवेचन को भी किसी शास्त्र, विचारधारा अथवा सैद्धांतिक धारणाओं की सीमा में समेटा नहीं जा सकता। इसी गति के तहत पूर्ववर्ती धारणाओं का अतिक्रमण कर नई अवधारणों का जन्म होता है। साहित्य की समाजशास्त्रीय अवधारणा का आगमन भी इसी तरह होता है। जो साहित्य में उपस्थित दृश्य को सामाजिक चेतना से निर्मित दृष्टि के संदर्भ में देखते हुए उसे विश्वदृष्टि के आलोक में प्रस्तुत करता है। यह शोध आलेख उक्त प्रसंग में लूसिए गोल्डमान के योगदान को रेखांकित करते हुए साहित्य संबंधी दृश्य, दृष्टि और विश्व–दृष्टि की धारणाओं का विवेचन करता है।

मूल शब्दः दृष्टि, विश्व–दृष्टि, संरचना, समाजशास्त्र, साहित्य, इतिहास, अंतर्राष्ट्रीय, धारणा, काव्यशास्त्र, रूपवाद, बिंब, वैयक्तिकता, संस्कृति, राष्ट्रीयता, मार्क्सवाद, व्यष्टि, समष्टि

किसी भी देश का साहित्य अपने देश की सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संस्थाओं के योग से तैयार होता है। साहित्य बनने के लिए रचना को एक लम्बी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया से गुजरना होता है। रचना की विषय–वस्तु एवं उसका रूप–विधान अपने समय की सामाजिक संरचना से प्रभावित होता है। साहित्य की धारणा ऐतिहासिक प्रक्रिया में बदलती रहती है। जब हिन्दी में साहित्य के नाम पर केवल कविता थी तब साहित्य की जो धारणा बनी थी, वही धारणा आज के साहित्य पर लागू नहीं की जा सकती। नये सामाजिक संदर्भ में नया साहित्य पैदा होता है फिर साहित्य की नयी धारणा बनानी पड़ती है। इस क्रम में प्राचीन धारणाओं को नकारा नहीं जाता अपितु उसके महत्व को स्वीकारते हुए नयी धारणा निर्मित होती है। जुलाई 1881 के 'हिन्दी प्रदीप' पत्रिका में बालकृष्ण भट्ट ने – ''साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है'' – शीर्षक से एक लेख लिखा। [1] यह शीर्षक ही साहित्य की नयी धारणा का द्योतक है। लेख का आरंभ भी इस कथ्य से करते हैं कि 'प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है।'[2] हृदय दृश्यों का संग्रह होता है और दृष्टि उसे आदर्श रूप देती है। यह लेख भारतेन्दु युगीन साहित्य की विशेषता की अभिव्यक्ति भी है। आज के जमाने में साहित्य की दुनिया केवल सौंदर्य और प्रेम की एकांत साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है। ऐसे में साहित्य का समाजशास्त्र एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित होने लगता है।

साहित्य का समाजशास्त्र भौतिकवादी व्याख्या का महत्वपूर्ण परिणाम है। दरअसल समाज को भगवान ने नहीं बनाया बल्कि यह एक ऐतिहासिक सत्ता है।[3] इसीलिए आधुनिक युग में साहित्य, दर्शन आदि एकांतिक विषयों को सामाजिक संदर्भ से जोड़कर देखने का चलन प्रारंभ हुआ। एक तरह से – खासकर साहित्य में – यह आलोचकों की मजबूरी भी है। साहित्य की धारणा के विकास और परिवर्तन में समाज की विकास प्रक्रिया की भूमिका काफी महत्वपूर्ण हो जाती है। उदाहरण के लिए विश्व साहित्य की अवधारणा को देखा जा सकता है। इस अवधारणा का विकास पूंजीवाद के पहले असंभव था। यह पूंजीवादी युग की देन है जहाँ विश्व एक बाजार के रूप में स्थापित हो रहा है। कार्ल मार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणा–पत्र में लिखा है कि बाजार के विस्तार के लिए बुर्जुआ वर्ग ने दुनिया के हर हिस्से पर हमला किया है, हर कोने पर कब्जा किया है, जगह–जगह नयी बस्तियाँ बसायी हैं और संचार व्यवस्था कायम की है। इस प्रक्रिया में पुरानी स्थानीय और जातीय आत्मनिर्भरता समाप्त हुई है, अलगाव मिटा है और राष्ट्रों के बीच परस्पर निर्भरता तथा घनिष्ठ संबंध का विकास हुआ है। अब राष्ट्रीय अनन्यता और विशिष्टता को बनाये रखना कठिन होता जा रहा है। तरह–तरह के स्थानीय तथा जातीय साहित्यों के बीच से विश्व साहित्य पैदा हुआ है।[4] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पूँजीवाद के अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव के पहले न विश्व–साहित्य की अवधारणा संभव थी और न विश्व–कवि की। संभवतः इसीलिए साहित्यिक विवेचन पर भी अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव पड़ता है। विविध परिदृश्य यह भी कहा गया कि 'मनुष्य के मौजूदा विचार ऐसी धारणाओं से भरे पड़े हैं जिनकी वैधता केवल आंशिक है।'[5] कालांतर में इसी अंश के विस्तार के लिए विभिन्न धारणाओं का विकास होता है।

साहित्य के विवेचन की जितनी महत्वपूर्ण विधाएँ हैं वे साहित्य की अपनी एक अलग धारणा बनाती हैं। रूपवादियों ने साहित्य की तरह–तरह की धारणाएँ बनाई और उनके अनुसार साहित्य की व्याख्या भी करते हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचना की भी एक अलग धारणा है। परन्तु इन रूपवादी और मनोवैज्ञानिक धारणाओं के सहारे साहित्य का इतिहास लिखना जरा कठिन काम है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के सामने काव्य और साहित्य संबंधी रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि जैसी समृद्ध काव्यशास्त्रीय धारणाएँ थी, फिर भी उन्होंने इतिहास लिखने के लिए साहित्य की नयी धारणा बनाई। इतिहास लिखने के लिए ऐसी धारणा की जरूरत होती है जिससे साहित्य का ऐतिहासिक स्वरूप प्रकट हो। साहित्य के समाजशास्त्र का उद्देश्य केवल व्याख्या करना नहीं होता। व्याख्या करने का काम तो अन्य पद्धतियाँ जैसे –– काव्यशास्त्रीय पद्धति, मनोवैज्ञानिक पद्धति –– भी बखूबी करती हैं। उसका उद्देश्य कृति की सामाजिक अस्मिता की व्याख्या करना हैं रचना की अस्मिता उसके सामाजिक संदर्भ और अस्तित्व से निर्मित होती है।

साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन साहित्य से समाज के संबंध की खोज से प्रारंभ हुआ था। इसके विकास में अग्रगामी भूमिका निभानेवाली ''मादाम स्ताल'' ने साहित्य की उत्पत्ति में समाज की भूमिका पर विचार किया। उन्होंने साहित्य के जातीय स्वरूप और तत्कालीन राजनीति से उसके संबंध को महत्व दिया था। इस चिंतन को व्यवस्थित रूप देने वाले ''तेन'' ने भी साहित्य की सामाजिक भूमि और उसके जातीय चरित्र पर बल दिया था। उस समय के समाजशास्त्रीय चिंतन के विषय पर डॉव मैनेजर पाण्डेय का यह वक्तव्य दृष्टव्य है – ''उन्नीसवीं सदी में साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन साहित्य से समाज को दो स्तरों पर जोड़ता था। एक तो समाज को साहित्य की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का निर्धारण करने वाली शक्ति के रूप में और दूसरे साहित्य को समाज के दर्पण के रूप में।''[6] यह चिंतन विधेयवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है। इसकी प्रमुख मान्यता है कि साहित्य समाज का दर्पण है जिसमें समाज प्रतिबिम्बित होता है। हिन्दी में महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय में दर्पणवादी दृष्टिकोण प्रचलित था। यह दृष्टिकोण रचनाकार की चेतना की क्रियाशीलता की उपेक्षा करता है। लेखक रचना में सिर्फ सामाजिक यथार्थ को ही चित्रित नहीं करता बल्कि उसमें उसकी कल्पना और आकांक्षा भी व्यक्त होती है। रचना की अंतर्वस्तु में ही समाज नहीं होता बल्कि उसके रूप और शिल्प में भी होता है।

उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य को ही देखा जा सकता है। आधुनिक युग के पहले गद्य का प्रायः अभाव है। उसमें भी एक निश्चित काल तक महाकाव्य की रचना होती है उसके बाद नहीं। साहित्य के इस परिवर्तन को दर्पणवादी दृष्टिकोण से नहीं समझा जा सकता।

बीसवीं सदी के साहित्यिक समाजशास्त्री यह मानते हैं कि साहित्य से समाज का ज्ञान होता है। कृति में सामाजिक चेतना, मूल्यबोध की अभिव्यक्ति होती है। समस्या उस ज्ञान, चेतना के रूप को लेकर होती है। अब अधिकांश समाजशास्त्री रचना के हर स्तर–– उसकी अंतर्वस्तु, संरचना, शिल्प और भाषा में समाज की अभिव्यक्ति मानते हैं। रचना की उस विषेशता को पहचानने के लिए लावेन्थल ने ''अर्थ के मर्म'' के विवेचन पर बल दिया तो गोल्डमान ने ''विश्व–दृष्टि'' के विश्लेषण पर। अडोर्नो ''अंतर्वस्तु के सत्य'' के बोध को जरूरी मानते हैं तो रेमण्ड विलियम्स ''अनुभूति की संरचना'' की पहचान को। बीसवीं सदी में जिन विचारकों ने साहित्य के समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित एवं विश्वसनीय अनुशासन बनाया है उनमें ल्यूसिएं गोल्डमान सर्वाधिक ख्यातिलब्ध माने जाते हैं। गोल्डमान साहित्य के समाजशास्त्री ही नहीं बल्कि वे दर्शन समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की यात्रा करते हुए साहित्य चिंतन की ओर आए। उनका सिद्धांत ''प्रजनिक संरचनावाद'' नाम से प्रसिद्ध है। यह सिद्धांत केवल साहित्य के समाजशास्त्र का सिद्धांत नहीं है, वह एक तरह से संस्कृति के समाजशास्त्र का सिद्धांत है। गोल्डमान ने समाज से संस्कृति के ऐतिहासिक, सामाजिक और सौन्दर्यबोधीय संबंधों की खोज की दृष्टि विकसित की है। गोल्डमान लूकाच की परंपरा को ही आगे बढ़ाते हैं। लूकाच का समाजशास्त्रीय सिद्धांत जहाँ रूकता है वहीं से गोल्डमान प्रारंभ करते हैं।

गोल्डमान ने अपने समय के फ्रांस और पूरे यूरोप के चिंतन से संवाद और संघर्ष करते हुए अपनी पद्धति को विकसित किया था। उनके सामने मार्क्सवाद से अस्तित्ववाद का द्वन्द्व था, फ्रायड और पिजे की मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ थीं, समाजशास्त्र में अनुभववाद से आलोचनात्मक सिद्धांत की टकराहट थी, संरचनावाद का व्यापक प्रभाव था। गोल्डमान मार्क्सवाद की भूमि पर खड़े होकर इन सबसे संवाद और संघर्ष करते हुए एक ऐसी पद्धति का विकास करने की कोशिश करते हैं जिसके सहारे कलाकृतियों का व्यापक ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रिया की समग्रता के भीतर मनुष्य की सार्थक क्रियाशीलता के रूप में विवेचन हो सके। उनकी की अधिकांश मान्यताएँ अर्जित हैं। इनकी मान्यताओं के तीन स्रोत हैं –– लूकाच, पिजे और संरचनावाद। लूकाच से इन्होंने समग्रता, विश्वदृष्टि, रूप, परावैयक्तिक चेतना, संभावित चेतना आदि धारणाएँ ली, पिजे से सार्थक संरचना, प्रकार्य, चेतना और वस्तु के बीच संबंध तथा संतुलन आदि धारणाएँ तथा समानधर्मिता की धारणा संरचनावाद से प्राप्त की हैं। मार्क्सवादी मूल्यवत्ता और संरचनावाद के बीच का रास्ता गोल्डमान ने अख्तियार किया। गोल्डमान लूकाच की परंपरा में आते हुए भी अपनी समाजशास्त्रीय दृष्टि में बड़े विस्तृत क्षेत्र को समेटते हैं। उनकी रूचि का क्षेत्र साहित्य ही नहीं बल्कि धर्म और दर्शन जैसी विधाओं तक व्याप्त है। साहित्य में भी वे मुख्य रूप से उपन्यास पर ही केन्द्रित नहीं रहे। ज्याँ जेने के नाटकों और रंचमंच का भी उन्होंने विवेचन किया, और फिल्मों का भी। उनके चिंतन में एक बँधी–बँधायी परिपाटी के स्थान पर अनेक विचारधाराओं का समंजन हुआ है। जीवन के प्रारंभिक चरण में मार्क्सवादी होते हुए भी वे आगे चलकर इस बंधी विचारधारा से उपर उठकर मार्क्सवाद तथा संरचनावाद जैसी परस्पर विरोधी धाराओं के बीच से संस्कृति का समाजशास्त्र विकसित करते हैं। इस प्रक्रिया में उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि द्वारा अंतर्वस्तु पर दिए जाने वाले अतिरिक्त बल का परिहार किया और साहित्य में रूप (या संरचना) के महत्व को भी रेखांकित किया। दूसरी ओर संरचनावाद की अनेक मान्यताओं का भी उन्होंने विरोध किया। उदाहरण के लिए संरचनावाद में कृति की संरचना (या शिल्प) पर बल दिया जाता है। उसमें रचना का जीवन संदर्भ, उसका सामाजिक संदर्भ और पूर्व परंपरा, समाज पर पड़ने वाला प्रभाव आदि गौण ही नहीं पूर्णतः उपेक्षणीय है। गोल्डमान ने इस इतिहास विरोध का विरोध किया और समाज, कृति और इतिहास के आपसी संबंध के अध्ययन को आवश्यक माना। इसके अतिरिक्त किसी भी रचना के संदर्भ में सामाजिक वास्तविकता तथा सामाजिक चेतना के महत्व को उन्होंने रेखांकित किया।

साहित्यिक विश्लेषण की एक पद्धति है कृति को समाज तथा इतिहास की प्रक्रिया के भीतर रखकर देखना। उनके अनुसार–''प्रत्येक कृति किसी लेखक की रचना होती है और वह लेखक के विचारों तथा अनुभूतियों को व्यक्त करती है। लेकिन वे विचार और भाव समाज तथा वर्ग के दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार और चिंतन से प्रभावित होते हैं।''[7] किसी भी कृति की व्याख्या व्यक्तिगत भावों के संदर्भ में नहीं वरन् समूह चेतना की संरचनाओं के संदर्भ में ही हो सकती है। यहीं गोल्डमान की विश्व–दृष्टि संबंधी अवधारणा सामने आती है। विश्व–दृष्टि ''विचारों, आकांक्षाओं और भावनाओं का ऐसा तंत्र है जो समाज में रहने वाले वर्ग–विशेष के सदस्यों को सहबद्ध करता है।''[8] अर्थात् दृष्टि का वैश्विक परिप्रेक्ष्य। यह किसी एक विचार या सिद्धांत से नहीं जुड़ी है वरन् विभिन्न विचारों से गूंथकर बना एक समाकलित तंत्र है जो समूचे समाज या सामाजिक वर्ग की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। कोई भी वर्ग आस–पास के समाज के लोगों से संबंध बनाता हैं। समाज, प्रकृति, नैतिकता, रचनाकर्म आदि के विषय में उसकी सोच, उसकी कल्पना और भावना वर्ग की समस्त दृष्टि से प्रभावित होती है और उसकी अपनी दृष्टि इसी से विकसित होती है। रचनाकार को भी वर्ग के सदस्य के रूप में वह दृष्टि मिलती है। वर्ग की इस विश्व–दृष्टि की वास्तविक जमीन समाज की इतिहास प्रक्रिया है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य में उपस्थित दृश्य रचनाकार की दृष्टि का ही परिणाम होता है। दृश्य और दृष्टि पर्याय पद नहीं है। दृश्य गोचर है और दृष्टि अगोचर। दृश्य चक्षु के नियंत्रण में और दृष्टि विवेक के नियंत्रण में। दृश्य पदार्थबद्ध और दृष्टि आधारबद्ध। दृष्टि प्रतिभा संबद्ध है और दृश्य इसका सहायक तत्त्व। जिस तरह एक रचना से दूसरी रचना निकलती है उसी तरह एक दृष्टि से दूसरी दृष्टि का भी निर्माण हो सकता है। दृश्य से दृश्य का निर्माण भी संभव है परंतु उसमें कल्पना की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। हालाँकि ये कल्पना भी दृष्टि की योग्यता पर निर्भर होती है। इनमें स्थानीयता और विश्व–बोध दोनों का समावेश संभव है। साहित्य में इन दोनों की स्थिति समय व परिस्थिति अनुकूल परिवर्तनशील होती है। यहाँ डॉव मैनेजर पाण्डेय का विचार ध्यान देने योग्य है –– ''चूंकि विश्व–दृष्टि का वर्ग, समाज और इतिहास से संबंध है, इसलिए प्रत्येक विश्व–दृष्टि की सार्थकता घटती–बढ़ती रहती है। एक ऐतिहासिक कालखंड में जो विश्व–दृष्टि प्रगतिशील होती है, वही कई बार बदली हुई परिस्थितियों में प्रतिक्रियावादी भूमिका निभाने लगती है।''[9] विश्व–दृष्टि विचारों, आकांक्षाओं तथा भावनाओं का एक ऐसा तंत्र है जो समाज में रहने वाले वर्ग–विशेष के सदस्यों को परस्पर संबद्ध करता है। इस प्रकार किसी रचना में प्रतिबिम्बित दृष्टि वर्ग–विशेष की ही विश्व–दृष्टि होती है। गोल्डमान विश्व–दृष्टि और विचारधारा में अंतर करते हैं। विचारधारा उनके अनुसार ''छद्म–चेतना'' होती है जबकि विश्व–दृष्टि वास्तविक चेतना है। परिवेष से उद्भूत होने के कारण विश्व–दृष्टि अपने काल–स्थान से जुड़ी रहती है। यह गतिशील नहीं होती। उदाहरण के लिए हिन्दी का छायावादी साहित्य एक प्रकार की विश्व–दृष्टि से प्रेरित है तो प्रगतिवादी साहित्य अन्य विश्व–दृष्टि की उपज है। 'साहित्य मनुष्य के संपूर्ण जीवन से संबद्ध है। वह केवल विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इंद्रिय–बोध, उसकी भावनाएँ, आंतरिक प्रेरणाएँ भी व्यंजित होती है।'[10] इसीलिए किसी रचनाकार की महत्ता का आंकलन करने के लिए गोल्डमान उसकी रचनाओं में निहित विश्व–दृष्टि की पहचान आवश्यक मानते हैं। लेकिन उसकी विश्व–दृष्टि की प्रामाणिकता की पहचान के लिए वर्ग की विश्व–दृष्टि की खोज आवश्यक मानते हैं। गोल्डमान साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए विशिष्ट रचनाकारों की महत्वपूर्ण कृतियों को ही लिए जाने के पक्ष में हैं। लूकाच की भांति वे भी श्रेष्ठ साहित्य और घटिया साहित्य में अंतर करते हैं। इसलिए उन पर आरोप भी लगाया है कि वे साहित्यिक अध्ययन को सीमित कर देते हैं। किंतु गोल्डमान मानते हैं कि श्रेष्ठ तथा महान रचनाओं में ही किसी वर्ग की विश्व–दृष्टि अधिक सुसंगत रूप में और अधिक प्रामाणिकता से व्यक्त होती है। रचनाओं की अंतर्वस्तु में देश, काल और विचारधारा का कुछ अंतर हो सकता है किन्तु अगर वे एक विशेष ऐतिहासिक काल–खंड की विश्व–दृष्टि से ईमानदारी से जुड़ी होंगी तो उनमें आंतरिक समानता अवष्य होगी और वह युग–सत्य की समानता होगी। उदाहरण के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य की तीन महत्वपूर्ण पर भिन्न (रूप के स्तर पर) कृतियों को देखा जा सकता है। ये कृतियाँ हैं – ''कामायनी'', ''राम की शक्ति–पूजा'' और ''गोदान''। इनमें कामायनी महाकाव्य है, राम की शक्ति–पूजा लम्बी कविता तथा गोदान उपन्यास है। लेकिन तीनों में संरचना के स्तर पर, चेतना की संरचना के स्तर पर, विश्व–दृष्टि के स्तर पर आश्चर्यजनक समानता है। तीनों में पराजय और निराशा की प्रधानता है।

इस प्रकार गोल्डमान के मत में कृति पूर्णतः व्यक्ति–विषयक नहीं होती वह परावैयक्तिक विषय है क्योंकि रचनाकार अकेला नहीं होता है, वह समाज और इतिहास का हिस्सा होता है। उसकी रचना को आंतरिक संगीत या कलात्मक संगीत उस विश्व–दृष्टि से ही प्राप्त होती है जो समाज के हिस्से के रूप में उसका दाय है। गोल्डमान की साहित्यिक दृष्टि समष्टि चेतना की अवधारणाओं पर केन्द्रित है किन्तु साहित्यिक रचना को वे समष्टि चेतना का प्रतिबिम्ब–मात्र नहीं मानते। साहित्य में उस चेतना के अनुकूल प्रवृत्तियों का प्रतिफलन होता है। समष्टि चेतना और साहित्य में बिम्ब–प्रतिबिम्ब का संबंध न होकर संरचनाओं की सजातीयता का संबंध होता है अर्थात् साहित्यिक कृति की आंतरिक संरचना विशिष्ट सामाजिक संरचना की सजातीय होती है। विश्व–दृष्टि की सीमा को बतलाते हुए ''जेन रूथ'' ने अपने लेख में लिखा है कि ''किसी विश्व–दृष्टि की पूर्ण–सत्ता विश्व को बोधगम्य बना सकती है, भले ही ठोस ऐतिहासिक स्थिति में रहने वाले समूहों के लिए उनका मूल्य अस्थायी हो। इस प्रकार उन्होंने यह धारणा बनाई कि जैसे ही सामाजिक यथार्थ बदलता है, उसके अनुरूप यदि विश्व–दृष्टि नहीं बदलती तो वह हठधर्मिता का रूप धारण कर लेती है।''[11] जो भी हो इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि दृष्टि साहित्य में बिंब बनकर 'भाव और अनुभूति क्षेत्र का अतिक्रमण करते हुए समय और इतिहास में धँसता है। संभवतः इस कारण समय और इतिहास के भीतर उभरने वाले दृश्य और उनका रूपांतरण करने वाली सभी तरह की प्रक्रियाओं (सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैचारिक, नैतिक, धार्मिक आदि) का रणक्षेत्र हो जाता है।' इसीलिए 'गाथाएँ दृश्यों, प्रचलित परम्परित अर्थ में बिंबों और अभिव्यक्ति के कौशलों से नहीं बनतीं, वे कुशल और चतुर रचनायुक्तियों से भी नहीं बनतीं। वे समाज और जीवन में चल रही ऐतिहासिक शक्तिओं की टकराहट और गतियों से बनती हैं। इस तरह उनमें संवेदनाओं और मार्मिकताओं की अहम भूमिका होते हुए भी प्रधान भूमिका द्रष्टा प्रतिभा की होती है।[12]

संदर्भ सूची

1. बालकृष्ण भट्ट प्रतिनिधि संकलन, संपाव सत्यप्रकाश मिश्र, नेशनल बुक ट्रस्ट, संस्करण–1995, पृव–15
2. वही
3. प्रसंग और आलोचना, नित्यानन्द तिवारी, स्वराज प्रकाशन, संस्करण 2013, पृव–164
4. मार्क्स और एंगेल्स, कम्युनिस्ट घोशणा–पत्र, प्रगति प्रकाशन, मास्को, हिन्दी अनुवाद, संस्करण 1981, पृव–17
5. भारत माता धरती माता, राममनोहर लोहिया, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2007, पृव–145
6. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादम, संस्करण 2001, पृव–13
7. वही, पृव–148
8. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, संव निर्मला जैन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, संस्करण 2009, पृव–101
9. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादम, संस्करण 2001, पृव–149
10. परंपरा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2016, पृव–11
11. संचयन नित्यानन्द तिवारी, संपाव अजय तिवारी, नई किताब प्रकाशन, संस्करण 2020, पृव–283
12. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, संव निर्मला जैन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, संस्करण 2009, पृव–112